# ओज़ोन का सिकुड़ता साया

शशि के. पाठक और निगल एफ. मेसन

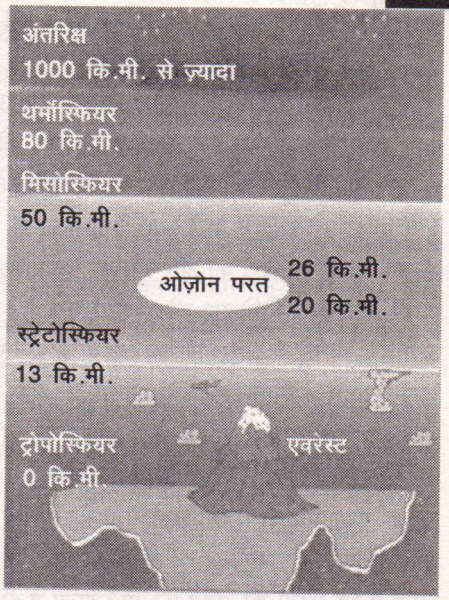


हमारे ग्रह को एक नीली सी गैस, ओज़ोन की एक पतली परत घेरे हुए है। यह परत पृथ्वी की सतह से कोई 20 से 50 कि.मी. ऊपर है। ओज़ोन ($O_3$) ऑक्सीजन के तीन परमाणुओं का एलोट्रॉप है। इस परत में ओज़ोन की अधिकतम मात्रा बहुत कम (केवल 300 कण प्रति 1 अरब कण) है। यानी अगर सारी ओज़ोन को पृथ्वी की सतह पर ले आया जाए तो पृथ्वी को घेरे इसका केवल 3 मि.मी. मोटा छल्ला बनेगा। स्ट्रेटोस्फीयर में ओज़ोन की परत को आम तौर पर ओज़ोन छतरी के नाम से जाना जाता है। यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यह परत पृथ्वी को सूरज के पराबैंगनी विकिरण से बचाती है। यह परत लगभग 1 अरब सालों से पृथ्वी का सुरक्षा कवच बनी हुई है। जैसा कि हम जानते हैं, यहां जीवन सिर्फ इस सुरक्षा छतरी के चलते ही सम्भव हुआ है। यह छतरी हमें सूर्य के हानिकारक पराबैंगनी विकिरण से बचाती है। लेकिन औद्योगिक क्रियाओं से पैदा हुए रसायनों से प्रदूषित हुई हवा ने पिछले कुछ दशकों में इस परत को गम्भीर नुकसान पहुंचाया है। इससे यह सुरक्षा परत झीनी हो चली है। इससे पृथ्वी पर जीवन काफी प्रभावित हुआ है। मसलन अब अंटार्क्टिक का इकोतंत्र खतरे में है। इसका प्रभाव दक्षिणी गोलार्ध में रह रहे लाखों लोगों के जीवन पर पड़ सकता है।

इस लेख में हम इस बात की समीक्षा करेंगे कि ओज़ोन परत कैसे बनती है और औद्योगिक प्रदूषण से इसका कैसे ह्रास होता रहा है और कैसे इसमें सुधार लाने वाले अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने ओज़ोन की घटती मात्रा के भयंकर परिणामों को समझकर इस विषय को पूरी गम्भीरता से उठाया है।

## ओज़ोन : पराबैंगनी किरणों का कवच

सूरज के अधिकांश पराबैंगनी विकिरण को स्ट्रेटोस्फीयर की ओज़ोन सोख लेती है। पराबैंगनी विकिरण में 100 नैनोमीटर से 400 नैनोमीटर तक की तरंग लम्बाई वाली किरणें होती हैं। इसे यूवी-ए, यूवी-बी और यूवी-सी के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। यूवी-सी पराबैंगनी किरणों की सबसे कम तरंग लम्बाई वाली किरणें हैं। यानी ये पराबैंगनी विकिरण का सबसे ऊर्जावान हिस्सा हैं। इनमें इतनी ऊर्जा होती है कि ये द्विपरमाणविक ऑक्सीजन ($O_2$) को ऑक्सीजन के दो अलग-अलग परमाणुओं (O) में विभाजित कर सकती हैं। ऑक्सीजन का हरेक मुक्त परमाणु $O_2$ अणु से जुड़कर ओज़ोन बनाता है। पूरी की पूरी यूवी-सी को स्ट्रेटोस्फीयर सोख लेता है। ज़रा सी भी यूवी-सी धरती की सतह पर आने नहीं पाती है। यूवी-ए की तरंग लम्बाई सबसे ज़्यादा है। स्ट्रेटोस्फीयर इसे आंशिक रूप में ही सोख पाता है। इसलिए इसका कुछ हिस्सा पृथ्वी की सतह पर पहुंच जाता है। मुख्यतः यही विकिरण धूप से चमड़ी झुलसने का कारण बनती है। वैसे तो स्ट्रेटोस्फीयर यूवी-बी को भी सोख लेता है लेकिन अगर इसमें ओज़ोन

कम है तो ये किरणें धरती की सतह तक आ पहुंचती हैं। कुछ सौर विकिरण (दृश्य प्रकाश) के धरती की सतह पर पहुंचने और कुछ (यू.वी.) के स्ट्रेटोस्फीयर में ही रोक लिए जाने की इन परिस्थितियों में कुछ जैविक अणु अस्तित्व में आए हैं। लिहाज़ा ये दृश्य प्रकाश किरणों को तो नहीं सोखते लेकिन पराबैंगनी विकिरण को सोख सकते हैं। चित्र 1 में पृथ्वी पर पहुंचने वाले 340 नैनोमीटर से कम तरंग लम्बाई वाले विकिरण को और प्रमुख जैव-अणुओं के द्वारा सोखे जाने वाले विकिरण को दर्शाया गया है। ये दो जैव अणु हैं - जिनेटिक जानकारी का वाहक डी.एन.ए. और $\alpha$ क्रिस्टलाइन - स्तनपाइयों के आंखों के लेंस का प्रमुख प्रोटीन। पाया गया है कि ये दोनों अणु यूवी-ए (320-400 नैनोमीटर तरंग लम्बाई) को तो बिल्कुल नहीं सोखते। अधिकांश सोखा गया प्रकाश (200-290 नैनोमीटर तरंग लम्बाई) यूवी-सी था। स्ट्रेटास्फीयर की ओज़ोन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि धरती की सतह पर आने वाला यू.वी. विकिरण और इन जैव-अणुओं द्वारा सोखा विकिरण यूवी-बी क्षेत्र यानी 290-320 नैनोमीटर तरंग लम्बाई के बीच ही मेल खाता है।

गौरतलब है कि ओज़ोन ही वायुमण्डल की महत्वपूर्ण ज्ञात गैस है जो यूवी-बी को सोख लेती है। आंकड़ों के अनुसार कुल पराबैंगनी विकिरण के 99 प्रतिशत (यानी सारी यूवी-सी और अधिकांश यूवी-बी) को ओज़ोन परत ही सोख जाती है। इससे समझा जा सकता है कि स्ट्रेटोस्फीयर में ओज़ोन के विघटन के परिणामस्वरूप धरती पर पहुंचने वाली यूवी-बी की मात्रा में बढ़ोत्तरी होगी। इससे जैव-अणुओं का विघटन होगा नतीजतन पौधों व जंतुओं को बहुत नुकसान पहुंचेगा।

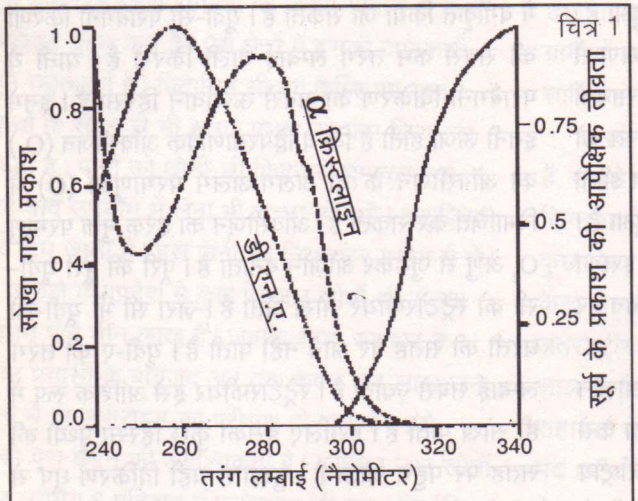

चित्र 1
दो जैविक अणुओं का पराबैंगनी अवशोषण स्पेक्ट्रम

## ओज़ोन और क्लोरोफ्लोरो कार्बन्स

स्ट्रेटास्फीयर में ओज़ोन प्राकृतिक रूप से तब बनती है जब $O_2$ दो स्वतंत्र ऑक्सीजन परमाणुओं में विभक्त हो जाती है। एक मुक्त ऑक्सीजन परमाणु $O_2$ से जुड़कर $O_3$ यानी ओज़ोन बनाता है। इसके बाद ओज़ोन प्राकृतिक रूप से विभाजित होकर ऑक्सीजन में परिवर्तित हो जाती है। लेकिन ओज़ोन के बनने और उसके विभाजन में कुल मिलाकर एक संतुलन होता है। हमेशा ओज़ोन का बनना कुछ ज़्यादा होता है। इससे स्ट्रेटोस्फीयर में ओज़ोन की एक परत बन जाती है।

यह संतुलन करोड़ों वर्षों तक बना रहा। लेकिन 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में रासायनिक उद्योगों द्वारा निर्मित क्लोरोफ्लोरोकार्बन (CFC) से सारा मामला गड़बड़ा गया। CFC-11 और CFC-12 सबसे ज़्यादा इस्तेमाल होने वाले क्लोरोफ्लोरो कार्बन हैं। इन रसायनों का इस्तेमाल मुख्यतः स्प्रे कैन, शेविंग क्रीम, हेयर स्प्रे, दुर्गंधनाशकों, पेंट, कीटनाशकों आदि में किया जाता है। उद्योगों ने शुरू-शुरू में इन्हें इनके टिकाऊपन के लिए चुना। ये बहुत ही अक्रिय हैं और लम्बे समय तक (निचले वायुमण्डल में कोई 50 से 100 साल तक) अविघटित रह सकते हैं। लेकिन निचला वायुमण्डल बहुत अस्थिर होता है और यहां बहुत उथल-पुथल होती रहती है। इस सबमें अंततः CFC ऊपर उठते हैं और स्ट्रेटोस्फीयर में जा मिलते हैं। स्ट्रेटोस्फीयर में पराबैंगनी किरणों की मौजूदगी में ये विघटित हो जाते हैं। जिससे क्लोरीन मुक्त

होती है। मुक्त क्लोरीन तत्काल रासायनिक क्रिया से ओज़ोन को खत्म कर देती है।

इसलिए उद्योगों के लिए उपयोगी होने के बावजूद हमें निर्णय लेना होगा कि हमारे ग्रह को इतना ज़्यादा नुकसान पहुंचाने वाले रसायनों का इस्तेमाल जारी रखना क्या लाज़मी है। हालत यह है कि अगर आज ओज़ोन को विघटित करने वाले तमाम पदार्थों का उत्सर्जन रोक दिया जाए तो भी अगले 50 सालों तक ओज़ोन का विघटन होना नहीं थमेगा। ऐसा इसलिए क्योंकि निचले वायुमण्डल में पहले ही इन रसायनों की लाखों मीट्रिक टन मात्रा जमा है जो ऊपर स्ट्रेटोस्फीयर की ओर बढ़ रही है। इस प्रक्रिया में 50 साल तक लग सकते हैं। इसके अलावा पिछले सालों में काफी मात्रा में CFC बनकर तैयार पड़े हैं जिन्हें अभी वायुमण्डल में नहीं छोड़ा गया है। ये अभी एयरकंडीशनरों, रेफ्रिजरेटरों आदि में बन्द हैं। इसलिए CFC के मौजूदा भण्डार के सावधानीपूर्वक निपटान की ज़रूरत है। साथ ही आगे भी इनके उत्सर्जन को रोका जाना चाहिए।

## वर्टेक्स

पृथ्वी के ओज़ोन कवच पर CFC के प्रभाव का सबसे नाटकीय प्रमाण बसंत के मौसम में अंटार्क्टिक के ऊपर देखा गया। आर्क्टिक के ऊपर भी जाती ठण्ड और आते बसंत के समय ओज़ोन सुरक्षा कवच में छोटा-सा सुराख हो गया। इसका कारण सर्दियों में यहां की विशेष जलवायु है। अंटार्क्टिक में सर्दियों के समय वायु का तापमान घटकर $-80^0$ सेल्सियस से भी नीचे तक पहुंच जाता है। इससे एक बड़ा जलवायु तंत्र बन जाता है - वर्टेक्स।

यह अंटार्क्टिक महाद्वीप को शेष विश्व से काट देता है। यह प्रदूषकों का एक बहुत बड़ा संग्राहक बन जाता है। इन स्थितियों के चलते स्ट्रेटास्फीयर का तापमान $-80^0$ सेल्सियस से भी नीचे चला जाता है। इसके बाद बहुत ऊंचाई पर बादल बनने लगते हैं - ध्रुवीय स्ट्रेटोस्फीयर के बादल यानी PSC। ये दो प्रकार के होते हैं - टाइप1 और टाइप2। इन दो किस्मों में बुनियादी फर्क यह है कि टाइप-1 में नाइट्रिक अम्ल के संघनन की भूमिका अहम होती है जबकि टाइप-2 में गंधक के अम्ल के संघनन की। ये बादल रासायनिक बदलावों के लिए ज़िम्मेदार हैं और हर साल सितम्बर और अक्टूबर के दौरान ओज़ोन के तेज़ विघटन को बढ़ावा देते हैं। इसे ही ओज़ोन छिद्र कहा जाता है। बसंत में सूरज की रोशनी वर्टेक्स में प्रवेश करती हैं और PSC में रासायनिक क्रियाओं की शुरुआत हो जाती है।

CFC का विघटन होता है और क्लोरीन मुक्त हो जाती है। यह तीव्र गति से ओज़ोन का ह्रास करती है। इस जगह पर ओज़ोन की मात्रा में 80 प्रतिशत तक की कमी हो जाती है। इसी का नतीजा है ओज़ोन की परत में सुराख। शोध अध्ययनों के मुताबिक 1998 में इस सुराख का आकार अधिकतम था। लेकिन 2000 तक यह सर्वाधिक गहरा हो गया था। दक्षिण ध्रुव के ऊपर का ओज़ोन स्तम्भ 2001 में 100 डॉबसन इकाई की न्यूनतम संख्या तक पहुंच गया था जबकि 2000 में यह 98 डॉबसन इकाई तक गया था।

उत्तरी गोलार्द्ध का आर्क्टिक वर्टेक्स छोटा है और दोनों ध्रुवीय क्षेत्रों के मौसमों के भारी फर्क के कारण यहां अंटार्क्टिक जितनी ठण्ड नहीं पड़ती। दक्षिण ध्रुव में लम्बी चौड़ी ज़मीन को पूरी तरह से घेरे समुद्र है जबकि उत्तर ध्रुव में ऐसा नहीं है। नतीजतन आर्क्टिक के स्ट्रेटोस्फीयर की हवा अंटार्क्टिक की तुलना में काफी गर्म है और यहां कुछ ही PSC बादल बनते हैं। इसलिए आर्क्टिक में अंटार्क्टिक के मुकाबले ओज़ोन ह्रास काफी कम है।

## ओज़ोन परत में सुराख का प्रभाव

ओज़ोन के सुराख का बढ़ता आकार इस बात का स्पष्ट सूचक है कि अब ज़्यादा यूवी-बी विकिरण पृथ्वी की सतह पर पहुंचेगा। यूवी-बी की बढ़ती मात्रा से इस ग्रह पर जीवन काफी ज़्यादा प्रभावित होगा। ऐसे ही कुछ गंभीर पर्यावरणीय प्रभाव हैं - पृथ्वी की खाद्य शृंखला (ज़मीन और समुद्र दोनों जगह) को नुकसान पहुंचना, इंसानी स्वास्थ्य पर असर (सभी तरह के त्वचा कैंसरों में बढ़ोत्तरी, मोतियाबिन्द और प्रतिरक्षा तंत्र का कमज़ोर होना)। यूवी-बी विकिरण आंखों को नुकसान पहुंचा सकता है जिससे मोतियाबिन्द हो जाता है। गौरतलब है कि मोतियाबिन्द में आंख का लेंस

अपारदर्शी हो जाता है जिससे दिखना बन्द हो जाता है। इसलिए आजकल लोग अक्सर पराबैंगनी किरणों को रोकने वाले चश्मे पहनना पसंद करते हैं। पराबैंगनी विकिरण से अधिक सम्पर्क से इंसानी प्रतिरक्षा तंत्र की कार्यक्षमता भी घट सकती है। कहा गया है कि ओज़ोन का ह्रास एड्स रोगियों के प्रतिरक्षा तंत्र को कमज़ोर कर देता है।

वैसे इंसानों के लिए तो यूवी-बी विकिरण से बचाव संभव है (धूप के चश्मे, क्रीम वगैरह लगाकर) लेकिन जंतुओं और पौधों के लिए ऐसा सम्भव नहीं। यूवी-बी विकिरण की अधिकता से गाय और सुअर जैसे जीवों में त्वचा का कैंसर और मोतियाबिंद का खतरा खड़ा हो जाता है। सुअरों की शरीर क्रिया आश्चर्यजनक रूप से इंसानी शरीर क्रिया से मेल खाती है। देखा गया है कि पराबैंगनी विकिरण के बढ़ने से दक्षिणी समुद्रों में प्लैंक्टन की संख्या में नाटकीय कमी आई है। गौरतलब है कि कई उच्च जीवों का मुख्य भोजन प्लैंक्टन ही है। यू.वी.-बी विकिरण के बढ़ने का सर्वाधिक असर पौधों में देखा गया है। नए पौधों के यू.वी.-बी विकिरण के सम्पर्क में आने से वृद्धि दर बहुत कम हो जाती है। इसका असर उत्पादकता पर पड़ता है। न्यूज़ीलैण्ड में हाल में दिखाया गया है कि यू.वी.-बी के उच्च स्तर के सम्पर्क में आने से उत्पादन मूल का तीन चौथाई रह जाएगा।

## अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियाएं और उनके असर

लगातार घटती ओज़ोन के प्रभावों के मिलते पुख्ता सबूतों से ओज़ोन ह्रास के लिए ज़िम्मेदार रसायनों को सीमित करने (और अंततः उन्हें खत्म करने) के लिए अंतर्राष्ट्रीय प्रयास ज़रूरी हैं। 1987 में मॉन्ट्रियल प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर कर दुनिया भर के कई देशों ने ओज़ोन नष्ट करने वाले रसायनों का निर्माण और उनका इस्तेमाल बंद करने के कारगर उपाय किए हैं। परिणामस्वरूप सरकारों के बीच कई सारे अनुबंध तैयार किए गए हैं। इसकी शुरुआत 1985 में ओज़ोन परत की सुरक्षा पर विएना सम्मेलन से हुई। इसके बाद 1990, 1992, 1995, और 1999 में लंदन, कोपनहेगन, विएना, मॉन्ट्रियल और बेजिंग में आयोजन हुए। पहले हैलोजनयुक्त रसायनों को प्रतिबंधित किया फिर क्लोरोफ्लोरो कार्बन और अब हाइड्रोक्लोरोफ्लोरो कार्बन को प्रतिबंधित करने पर ज़ोर दिया जा रहा है। हालांकि विश्व के विभिन्न हिस्सों में उठाए गए इन कदमों को अलग-अलग तरह से समझा गया है। साथ ही विकासशील और औद्योगिक देशों की ज़रूरतें अलग-अलग हैं। विकसित देशों में इन रसायनों का उत्पादन सन 2006 तक बंद हो जाएगा जबकि (भारत समेत) विकासशील देशों को 2010 तक की मुहलत दी गई है। हाइड्रोक्लोरोफ्लोरो कार्बन के मामले में औद्योगिक देशों के लिए समयावधि 2030 है और विकासशील देशों के लिए 2040। तो उम्मीद की जाए कि 2040 तक ओज़ोन घटाऊ रसायन नहीं रहेंगे। इससे ओज़ोन का सुराख धीरे-धीरे कम होता जाएगा और इस सदी के अंत तक पूरी तरह से बंद हो जाएगा। बहरहाल अभी ओज़ोन घटने की प्रक्रिया के बारे में हमारा ज्ञान अधूरा है। आज कई ऐसे रसायन बनाए जा रहे हैं जो हो सकता है आने वाले समय में ओज़ोन ह्रास का कारण बन जाएं।

## और अन्त में....

मानव जीवन की दृष्टि से ओज़ोन का क्षय एक बड़ी वैश्विक पर्यावरणीय समस्या है। स्पष्ट ही यह इंसानी गतिविधियों का नतीजा है।

इसमें कोई शक नहीं कि अगर ओज़ोन के सुरक्षा कवच पर समय रहते ध्यान न दिया गया तो हमारे पर्यावरण पर इसके भयानक परिणाम नज़र आ सकते हैं। सिद्धांतन अंतर्राष्ट्रीय नियामकों के चलते वायुमण्डल में ओज़ोन घटाने वाले रसायनों में कमी हो जाने से ओज़ोन सुराख को धीरे-धीरे भरना चाहिए। लेकिन यह एक खुला सवाल है कि क्या इसकी पूरी बहाली सम्भव है?

इन वैश्विक घटनाक्रम के उपचार का अंदाज़ लगाने के लिए कम्प्यूटर अनुरूपणों और मॉडल पूर्वानुमानों के अध्ययनों में संशोधन करना होगा। हमें समझना होगा कि कैसे अपने खुद के कर्मों से 50 सालों में ही हमने पृथ्वी को इतना बदल दिया है। औद्योगिक विकास की राह में चल निकले हम लोगों को ध्यान रखना होगा कि कहीं हम दुनिया में विध्वंसात्मक बदलावों की शुरुआत न कर बैठें। ***(स्रोत विशेष फीचर्स)***